3.1. पुरुषार्थ चतुष्टय

समाज की महत्त्वपूर्ण इकाई के रूप में मनुष्य के द्वारा जीवन-पर्यन्त जो भी कर्म किए जाते हैं, भारतीय मनीषियों ने उन सभी का निर्धारण कर उनको पुरुषार्थ के रूप में पारिभाषित किया है। यह पुरुषार्थ सम्बन्धी संकल्पना भारतीय धर्मशास्त्रों की मौलिक, विशिष्ट व महत्वपूर्ण अवधारणा है। सभी सामाजिक संरचनाओं, व्यवस्थाओं, संस्थाओं एवं समाज के समस्त अंगों के केन्द्र या मूल में यह पुरुषार्थ का सिद्धान्त ही कार्यान्वित होता है। धर्मशास्त्रों में विवेचित प्रत्येक विषय या व्यवस्था प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से पुरुषार्थ को ही सिद्ध करती है अथवा उसी की पोषक है या सिद्धि में सहायक है।

पुरुषार्थ का अर्थ

पुरुषार्थ शब्द दो शब्दों 'पुरुष' व 'अर्थ' से मिलकर बना है। इनमें 'पुरुष' शब्द मनुष्य मात्र का अर्थात् देहधारी पुरुष का वाचक है तथा 'अर्थ' शब्द प्रयोजन, लक्ष्य, साध्य, साधन तथा उद्देश्य का बोधक है। इस प्रकार पुरुषार्थ का अर्थ है—मनुष्य के जीवन का वह लक्ष्य या प्रयोजन जिसकी प्राप्ति के लिए वह सदैव प्रयत्नशील रहता है और जो उसके जीवन का परम ध्येय है।

पुरुषार्थ चतुष्टय एवं त्रिवर्ग

पुरुषार्थ चतुष्टय में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को सम्मिलित किया जाता है, जिन्हें पुरुषार्थ-चतुष्टय अथवा चतुर्वर्ग भी कहा जाता है। मनुष्य की सम्पूर्ण चेष्ठाएँ एवं क्रिया व्यापार इन्हीं से संबंधित होते हैं। त्रिवर्ग का उल्लेख भी शास्त्रों में मिलता है। कदाचित् इस चतुवर्ग पुरुषार्थ में से एक को छोड़कर शेष तीन पुरुषार्थ को त्रिवर्ग संज्ञा से अभिहित किया जाता है, परन्तु वे तीन पुरुषार्थ कौन से हैं, इस संबंध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान त्रिवर्ग में धर्म, अर्थ व काम की गणना करते हैं, तो अन्य कुछ काम को छोड़कर शेष तीन अर्थात् धर्म, अर्थ व मोक्ष को इस वर्ग में सम्मिलित करते हैं।

इनमें प्रथम मत (धर्म, अर्थ व काम) को मानना उचित प्रतीत होता है। इसके पक्ष में दो युक्तियाँ दी जा सकती हैं- ये तीन लौकिक प्रयोजन है, जबकि चतुर्थ परलौकिक या आध्यात्मिक प्रयोजन है।

प्रथम तीन पुरुषार्थ साधन है, इसके विपरीत अन्तिम (मोक्ष) साध्य है।

3. धर्म, अर्थ व काम - ये मनुष्य के द्वारा क्रियाएँ हैं, किन्तु मोक्ष इन क्रियाओं का फल है।

धर्म

धर्म शब्द 'धृ' धातु व मनिन् प्रत्यय के योग से बना है, जिसका अभिप्राय है- धारण करना, आलम्बन देना, पालन करना। विभिन्न ग्रन्थों में यह शब्द भिन्न-भिन्न अर्थों को इंगित करता है। कहीं पर यह धार्मिक क्रिया . संस्कारों व उनसे अर्जित गुण के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, कहीं समस्त धार्मिक कर्तव्यों के अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है। किन्हीं प्रसंगों में यह आचार-परम्परा या कर्तव्यों का बोधक है, तो कभी यह लौकिक अभ्युदय व निःश्रेयस् (कल्याण) का साधन रूप में व्याख्यायित हुआ है।

भारतीय लोक जीवन मे भी धर्म शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में दिखाई देता है, जो शास्त्रों से भिन्न हैं, किन्तु उनका अतिक्रमण नहीं करते। वरन् यह के ज्ञापक होते हैं, जैसे - जब लोक में पत्नी धर्म या पतिव्रत्य धर्म का प्रयोग करती है तो उसका अभिप्राय पति की सेवा-गुशुषा से है अथवा यह कहा जाए कि-राजा का धर्म प्रजा पालन है तो इसका तात्पर्य राजा के द्वारा प्रजा के हित धर्मशास्त्रों में धर्म का अर्थ कर्त्तव्य, आचरण, आदर्श एवं मर्यादित कर्तव्य है। इनमें धर्म विषयक विस्तृत विचार प्रस्तुत हुए हैं तथा धर्म के स्वरूप, लक्षण, प्रमाण, साधनादि का भी निरूपण धर्मशास्त्रकारों ने किया है, जिसका विवेचन पूर्व अध्याय में किया गया है। अत: यहाँ उनकी व्यवहारिक पृष्ठभूमि पर व्यापक रूप में व्यवहृत होते हैं व सहज गुण या प्रवृत्ति में किए जाने कर्त्तव्य-कर्मों, करणीय कार्यों या उत्तरदायित्वों से होता है। वाक्य प्रयोग होने पर कि साँप का धर्म काटना है, बिच्छू का धर्म डंक मारना है, साधु का धर्म क्षमा करना है, तो यहाँ धर्म शब्द स्वभाव या 'सहजप्रवृत्ति' (जो स्वाभाविक रूप से विद्यमान होती है,

जिसके लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता) का ज्ञापक है। जब यह कहा जाए कि अग्नि का धर्म जलाना है और वायु का धर्म सुखाना तब यहाँ धर्म से अभिप्राय मूल या प्रधान गुण से या विशेष गुण से होता है, अन्यों से पार्थक्य (पृथक्) करता है। जब मनुष्य के अपने धर्म से पतित होने की बात कही जाती है, तब धर्म शब्द पवित्रता का वाचक होता है।

धर्म के कारण ही मनुष्य अन्य प्राणी वर्ग से भिन्न तथा विशिष्ट है क्योंकि आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि तो अन्य जीवों में भी स्वाभाविक रूप से दिखाई देती है, किन्तु धर्म-पालन रूप व्रत को केवल मनुष्य ही धारण करता है। यह मानव के नैतिक कर्त्तव्यों एवं दायित्वों की समष्टि है। धर्म ही वह तत्त्व है, जो मनुष्य व पशुओं में भेद करता है, क्योंकि आहार- विहारादि स्वाभाविक वृत्तियों को इसके (धर्म) द्वारा मनुष्य मर्यादित कर लेता है, अत: कहा भी गया है-

आहार निद्रा भय मैथुनञ्च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।

धर्मो हि तेषामधिकोविशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।।

पुनरावृत्ति न करते हुए वांछित स्थलों पर नामोल्लेख ही किया जाएगा।

धर्म का वर्गीकरण

धर्मशास्त्र में विवेचित धर्म को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है- (1) सामान्य धर्म (2) विशिष्ट धर्म (3) आपद् धर्म ।

1. सामान्य धर्म - इसके अन्तर्गत उन धर्मों अथवा नियमों को रखा जाता है, जो सभी के द्वारा अनुसरणीय हैं। फिर चाहे वो वृद्ध हो अथवा बालक, निम्न वर्ण हो या उच्च, स्त्री हो या पुरुष, धनी हो अथवा निर्धन इन सामान्य धर्मों का पालन सभी के लिए अनिवार्य है। ये धर्म किसी सीमित वर्ग या समूह तक सीमित न होकर सम्पूर्ण मानव समुदाय से सम्बद्ध हैं। इनका सम्बन्ध मनुष्य के नैतिक आचरण से है। पुराण व स्मृति आदि में इन सामान्य धर्म के पालन पर बल दिया गया है तथा भिन्न-भिन्न सद्गुणों की गणना की गयी है, जैसे- भागवत पुराण में देवर्षि नारद ने 30 सामान्य धर्मों का उपदेश प्रह्लाद को दिया है- सत्य, दया, तपस्या, पवित्रता, कष्ट सहने की क्षमता, उचितानुचित विचार, मन का संयम, इन्द्रिय संयम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, सरलता, संतोष, समदृष्टि, सेना, धैर्य, भोग त्याग, लौकिक सुखों के प्रति उदासीनता, मौन, आत्मचिन्तन, सभी प्राणियों में आराध्य को देखना, अन्न दान, सज्जन संगति, ईश्वर गुणगान-चिन्तन-सेवा, पूजा, यज्ञ, ईश बन्दना, ईश्वर-दास, आत्म समर्पण आदि। मनु ने दस सामान्य धर्म बताए हैं- धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय निग्रह, धी, विद्या, सत्य, अक्रोध आदि। यज्ञवल्क्य ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय संयम, दान, दम, दया, शान्ति की गणना की है। इनका वर्णन पूर्व अध्याय में किया गया है, अत: यहाँ नामोल्लेख ही किया है।

विशिष्ट धर्म

ये वे धर्म हैं जो किसी व्यक्ति के द्वारा विशेष रूप से पालनीय हैं। इनको स्वधर्म भी कहा जा सकता है। ये धर्म प्रत्येक व्यक्ति के आश्रम व वर्ण के अनुसार होते हैं। जैसे - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र आदि वर्गों के अपने विशेष धर्म हैं, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी और संन्यासी के अपने अलग धर्म हैं। इन सभी के धर्म एक-दूसरे से भिन्न हैं। इस प्रकार समाज में एक व्यक्ति के अन्य व्यक्तियों से भिन्न कर्त्तव्यों जो उसकी

नैमित्तिकधर्म - वे धर्म जो किसी निमित्त (हेतु अथवा प्रयोजन) से अनुष्ठित होते हैं, नैमित्तिक धर्म कहलाते हैं, जैसे - प्रायश्चितादि का विधान सामाजिक स्थिति के अनुसार निर्धारित होते हैं, उसके विशिष्ट धर्म है। विशिष्ट धर्मों के निर्धारण के सम्बन्ध में भी विद्वानों में पर्याप्त वैमत्य है। कुछ वर्णधर्म, आश्रम धर्म, नैमित्तिक धर्म (प्रायश्चितादि), गुणधर्म (अभिषिक्त राजा के संरक्षण संबंधीनियम) को इस श्रेणी में मानते हैं, तो अन्य कुछ वर्णधर्म, आश्रमधर्म, कुलधर्म, युगधर्म, राजधर्म व स्वधर्म को इसमें रखते कुछ ने युगधर्म के स्थान पर कालधर्म व देशधर्म का उल्लेख किया है। संक्षेप में इनका निरूपण इस प्रकार है-

वर्णधर्म - वर्णानुसार अर्थात् ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य- -शुद्र आदि के लिए विहित सामाजिक कर्त्तव्य व नियमादि।

आश्रम धर्म - आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत चारों आश्रमों के कर्त्तव्यों तथा नियमों का पालन।

कुलधर्म - वंश परम्परा से चले आ रहे आचारों का क्रियान्वयन जो कुटुम्ब के सम्बन्धियों द्वारा परस्पर सहयोग से विशेष रूप से किया जाता है, जैसे - विवाहादि के अवसर पर अनुष्ठेय कर्म अथवा विभिन्न अवसरों पर शौच-अशौच सम्बन्धी पारिवारिक मान्यताएँ जो कालनुक्रम से वंश व पीढ़ी दर पीढ़ी चली आ रही हो।

युगधर्म - युग के अनुरूप को आदर्श, नियम व मान्यताएँ विशेष काल में परिस्थिति अनुसार विकसित व प्रचलित होती हैं और समय बदलने के साथ ही परिवर्तित हो जाती हैं। जिनका निरूपण करते हुए आचार्य मनु ने कहा है कि सत्युग में दूसरे धर्म व त्रेता, द्वापर, कलियुग में दूसरे धर्म हैं।

राजधर्म - राजा के कर्त्तव्य जो चाहे प्रजा के प्रति हों अथवा देश, राष्ट्र, मन्त्री, मित्र या शत्रु राज्यों के प्रति हों, वैधानिक हों अथवा शासकीय, सामान्य परिस्थितियों में हों या विशेष में राजधर्म कहे जाते हैं। दोषापाकरण के निमित्त होने से इस कोटि में आ जाते हैं।

देशधर्म - वंश की भौगोलिक सीमा के अन्दर वहाँ के स्थानीय लोगों में प्रचलित वे धर्म जो वहाँ की स्थानीय परिस्थितियों, जलवायु आदि के कारण विकसित होते हैं और अन्य देशों से पृथक् होते हैं, जैसे-वेश-भूषा, भोजन, अलंकरण आदि से सम्बद्ध नियम-व्यवस्थाएँ। इस प्रकार विशिष्ट धर्म देश व काल सापेक्ष होने के साथ-साथ सीमित जन-समूह के लिए ही विहित हैं। सामान्य धर्म की अपेक्षा इनका अनुपात कर्ताओं का वर्ग अल्प ही है।

आपद् धर्म - धर्मशास्त्रियों ने सामान्य व विशिष्ट धर्म के अतिरिक्त एक अन्य धर्म की चर्चा की है, जिसे आपद् धर्म कहते हैं। आपद् धर्म का पालन सामान्य परिस्थितियों में न होकर उन विशिष्ट परिस्थितियों में करणीय है, जो किसी आपत्ति या दुर्घटना के कारण उपस्थित होती हैं। मनुष्य के जीवन में कभी ऐसे अवसर भी उपस्थित होते हैं, जब वर्ण-आश्रम आदि धर्मों से जीवन-निर्वाह सम्भव नहीं होता, ऐसी स्थिति के लिए शास्त्रकर्ताओं ने आपद् धर्म का विधान किया है। इस समय विशिष्ट धर्म स्थागित हो जाते हैं और मनुष्य किसी अन्य वृत्ति को अपनाकर जीवन-यापन करता है। किन्तु परिस्थितियाँ सामान्य होने पर प्रायश्चितोपरान्त मनुष्य को पुन: अपनी पूर्व-चर्या का पालन करना होता है।

Lecture by Ritu Mishra

Semester -5

Department of sanskrit

Shivaji college